तृतीय अध्याय

1- प्राण और ब्रह्म

2- अन्न और प्राण

3- प्राण और हृदय

4- हृदय से निःसृत
सौ नाड़ियाँ, एक सुषुम्ना

5- सौ नाड़ियों के बहत्तर [72]
करोड़ रूप

======

तृतीय अध्याय

प्राण और ब्रह्म

जो सम्पूर्ण संसार को प्राण रूप चेष्टा कराये उसका नाम ब्रह्म है। एकमात्र परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत को प्राण रूप चेष्टा कराता है, इसलिए प्राण शब्द से परमात्मा का ही ग्रहण है अर्थात् जैसे देह की स्थिति का कारण एक मात्र शरीर वर्ती प्राण है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की गति का कारण एकमात्र ब्रह्म है, जिसको शास्त्रकारों ने "प्राण" शब्द से कथन किया है।[1]

सम्पूर्ण प्राणिवर्ग को प्राण शक्ति देने वाला एक मात्र प्राण रूप ब्रह्म ही है, क्योंकि निश्चय प्राण से ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर प्राण से ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं।[2]

छान्दोग्योपनिषद में भी प्राण और ब्रह्म एक है ऐसा कहा गया है। प्राण ब्रह्म है क। सुख। ब्रह्म है ख। आकाश। ब्रह्म है अर्थात् जो क है वही ख है जो ख है वही क है। क का अर्थ सुख है और ख का अर्थ आकाश है। जब ये दोनों एक दूसरे के विशेषण कर दिये गये, तो यह हृदयस्थ ब्रह्म को बोधन करते हैं। अब क विषयसुख को नहीं कह सकता, किन्तु ऐसे सुख का नाम है जो आकाश से संबंध रखता है। वह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म है और ख अब भौतिक आकाश का नाम नहीं रहा किन्तु इस चेतन आकाश से अर्थात् उस व्यापक चेतन से अभिप्राय हो गया है, जो सुख स्वरूप है। इस प्रकार क और ख दोनों मिलकर हृदयस्थ शुद्ध ब्रह्म को कहते हैं और प्राण हृदय से संबंध रखने से सगुण ब्रह्म है।[3]

1- उपनिषदार्य भाष्य द्वितीय भाग पृ0 13.

2- उपनिषद भाष्य खण्ड 2, भृगुवल्ली, पृ0 220, तृतीय अनुवाद

3- छान्दोग्यपनिषद-प्रपाठक 4 खण्ड 10 पृ0 154

ब्रह्मसूत्र में भी प्राण और ब्रह्म का वर्णन करते हुए लिखा है-

मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और तेजोमयी वाणी है ।छा06/5/4। उसमें यदि उनके अन्नमयत्व मुख्य ही हो, तो उससे उनका ब्रह्मजनत्व है ही । मन आदि के अन्नमयत्व आदि गौण हो तो भी ब्रह्म जिसका कर्ता है, ऐसे नामरूप के व्याकरण में श्रवण होने से येनाश्रुत श्रुतं भवति" ।छ06/8=7। जिससे अश्रुत श्रुत होता है। ऐसा उपक्रम होने से "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् यह सारा प्रपंच ब्रह्म स्वरूप है इस प्रकार उपसंहार होने से और अन्य श्रुति में प्रसिद्ध होने से मन आदि का अन्नमयत्व आदि जो कहा है, वह ब्रह्मकार्य ऐसा विस्तार से दिखलाने के लिए ही है ऐसा ज्ञात होता है ।

सम्पूर्ण प्राणि वर्ग को प्राण शक्ति देने वाला एक मात्र प्राणरूप ब्रह्म ही है, इसका ज्ञाता दुःख पड़ने पर भी अपने आपको दुःखी नहीं मानता है और न सुख में सुखी मानता है, उसके लिए सुख-दुख समान होते हैं क्योंकि उसको यह ज्ञान होता है कि सुख दुख आगमापायी है तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वों की सहिष्णुता से वह सर्वथा निष्पाप हो जाता है और वह जो कुछ खान पान और व्यवहार करता है वह सब शरीर यात्रा के लिए करता है और ऐसा ही पुरुष निष्कामकर्मी कहलाता है, स्वार्थी नहीं ।[1]

वेदान्त दर्शन के प्रथम अध्याय में ही ब्रह्म को प्राण कहा गया है । अतएव प्राण प्रथम सूत्र में आकाशः तल्लिगात् में आकाश को भी ब्रह्म कहा गया है । आकाश सर्वव्यापक है और सर्वाश्रय है इसीलिए आकाश में ब्रह्म के लक्षण मिलने के कारण उसे ब्रह्म कह दिया गया है । यही आधार प्राण को भी ब्रह्म करने में स्वीकृत है। जो लिंग या चिह्न आकाश और ब्रह्म में एक समान है वैसे ही चिह्न प्राण और ब्रह्म में एक समान है । ब्रह्म जीवनदाता है, प्राण भी जीवन प्रदायक है । अथर्ववेद के

ब्रह्म सूत्र प्राणोत्पत्त्याधिकरण, पृ0 1554, शंकर भाष्य रत्न प्रेमानुवाद सहित

1-उपनिषदार्य भाष्य , छान्दोग्यउपनिषद, द्वितीय भाग प्रथम प्रपाठक द्वितीय खंड पृ0 14-15

अनुसार प्राण के वशमें यह सब कुछ है, वह सबका स्वामी है, ईश्वर है । उसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है । इसी कारण प्राण को ब्रह्म कहा जाता है । आकाश और प्राण के साथ ब्रह्म को ज्योति भी कहा गया है । आकाश आश्रय है और जीवन है तो ज्योति ज्ञान और प्रकाश का पुन्ज है ।[1]

उपनिषदों ने प्राण को इन्द्रियों से श्रेष्ठ माना है । एक एक इन्द्रिया के निकल जाने से शरीर जीवित नहीं रहता । अतः प्राण इन्द्रियों से अधिक महत्व रखता है।[2] इन्द्रियों में स्वार्थवृत्ति भी है, प्राण पूर्णतया निस्वार्थ है, उसे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए । वह अपना सब कुछ इन्द्रियों को तथा शरीर को दे रहा है, यही निः स्वार्थ भाव ब्रह्म है । ब्रह्म निखिल ब्रह्माण्ड का संचालन कर रहा है । इस संचालन में श्रम ही श्रम है, तपही तप है, आदान कुछ नहीं है । ब्रह्म की यह स्वामिता यह निः स्वार्थता उसे सब में सर्वोत्तम सत्ता सिद्ध करती है, यही कारण है कि प्राण और ब्रह्म एक ही कोटि के हैं और ये पर्यायवाची से बने हुए हैं । प्राण को आत्मा की छाया भी कहा गया है जैसे छाया छायावान् के सदैव साथ रहती है वैसे प्राण भी आत्मा के साथ सदैव रहता है ।[2अ] यदि ब्रह्म व्यापक है, तो प्राण भी ब्रह्माण्ड भर में व्याप्त है । व्यक्ति और विश्व दोनों की गति के मूल में प्राण ही है ।

1-वेदान्त दर्शन प्रथम अध्याय

2-बृहदारण्यकोपनिषद-षष्ठ अध्याय प्रथम ब्राह्मण

2अ-वही

ऋत और प्राण

वैज्ञानिको ने अणु विश्लेषण क्षिप्रनतिक्षिप्र गतियों का जाल देखा है । क्या ये गतियां निरपेक्ष हैं ? क्या इनका कोई अधिष्ठाता नहीं है ? दूसरा प्रश्न यह भी हो सकता है कि इनका संचालक कौन है ? गति अधिष्ठान और संचालक तीनों के समाधान में प्रत्येक युग के वैज्ञानिक एवं दार्शनिक तत्पर रहे हैं । वह सब एक ही निर्णय पर पहुँचे हैं, ऐसा नहीं है । किसी ने संचालक को विशेष महत्त्व दिया है तो किसी ने गति एवं अधिष्ठान को । अंग्रेजी के तीन शब्द माइण्ड, मोशन और मैटर इन तीनों के पर्याय हैं । स्पिनोजा इन्हे ईश्वर (God) चेतना (Thought) तथा विस्तार (Extension) कहता है । आचार्य रामानुज इन्हे व्याप्य व्यापक अथवा शरीरऔर शरीरी का संबंध स्वीकार करते हैं । स्पिनोजा ने इससे मिलती जुलती बात लिखी है उनकी दृष्टि में चेतना और विस्तार ईश्वर के गुण हैं । पाश्चात्य एवं पौरस्त्य अद्वैतवादी एक अन्तिम निरपेक्ष सत्य के अतिरिक्त अन्य सबको सापेक्ष कहते हैं ।

वैदिक वाङ्मय में ऋत का प्राय: प्रयोग हुआ है । वेद अनादि एवं अनन्त ज्ञान के स्रोत हैं । यजुर्वेद के पंचम अध्याय में ईश्वर को ऋत का धाम कहा गया है। ऋत में चेतना पर आश्रित गतिऔर कर्म दोनो ही आते हैं । ये भी दो प्रकार के हैं- सहज निरपेक्ष और सापेक्ष । ईश्वर विभु है, सर्वव्यापक है अत: अपने व्याप्य का संचालन करता रहेगा औरउसके अस्तित्व या निर्वाह का भी हेतु होगा पर शरीर निर्वाह के लिए जो श्रम और कार्य मनुष्य को करने पड़ते हैं ब्रह्माण्ड की क्षति पूर्ति हेतु मानव को अपनी ओर से यज्ञ करता है औरअग्नि में हव्य डालता है उसका वहन, विकिरण, कार्य सम्पादन भीतो ईश्वर करता है । प्रथम निरपेक्ष रूप में वह विभु और द्वितीय सापेक्ष रूप में वह हव्य वाहन वह्नि कहा जाता है ।

सापेक्ष रूप में प्रभु समुद्र और विश्वव्यचा है । प्राकृतिक क्षेत्र में सबका समुद्र वर्षा तथा विश्वभर का विस्तार उसी से हुआ है, और परिणामत: सब उसी की ओर द्रवित होते हैं तथा उसी में समा जाते हैं । निरपेक्षत: वह अज है, अजन्मा

है, प्रपंच या विस्तार के साथ संबद्ध चतुष्पाद नहीं, एक पाद है, अनन्त है । चर और अचर द्विविध जगत् में हीनता आती रहती है पर प्रभु अहि है, हीनता रहिति है । ये ऋत के भी दो रूप हैं । इन्हीं को गति एवं परमगति कहा जा सकता है। परमगति केन्द्र रूप प्रभु में है जो निरपेक्ष है और ऋतु का धाम है, परन्तु गति सापेक्ष रूप में विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति, गति-परागति, धन-ऋण, गुणा-भाग आदि द्विविध रूपोंमें दिखाई देती है । स्थूल गति के अतिरिक्त जो सूक्ष्म मानसिक या वैद्युतिक आन्तरिक स्थानीय गति है वह वाणी की गति है, ऐश्वर्य शोभा या कान्ति की गति है अथवा जो विराम (सत्) में गति है- वे सब भी ऋत के ही नाना रूप हैं ।

ऋत के विविध रूपों का जो वर्णन हुआ है, वह ही चेतन जगत् एवं प्राकृतिक जगत् दोनों से संबंधित है । ऋत का तन्तु दोनों ओर विस्तृत हुआ है, पर अपने मूल स्थान से जब यह चल पड़ता है तो चार दिशाओं में फूटकर चार कोनों का निर्माण करता है ।

यजुर्वेद में भी वर्णित है कि "ऋत की चार कोणों वाली चतुर्दिक फैली हुई है । वह हमारी समस्त आयु में विस्तीर्ण है । वह विश्वभर की आयु में विस्तीर्ण है।

ऋत और सत् का एक युग्म है । ऋत या गति स्वयं युग्मवती है । गति का मिथुनीभाव प्राकृतिक क्षेत्र में संकोच एवं प्रसारण में प्रगट होता है । इन्हीं को निमेष और निर्निमेष दृष्टि भी कहते हैं । ग्रहों की गति में भी यह युग्म दिखाई देता है । ग्रहो में शत्रुज मित्र भाव भी है । अग्नि की भेदक शक्ति में शोधक एवं पावक दोनों ही गुण विद्यमान हैं । वायु आदि भी मल का अपहरण तथा जीवन का संचार दोनों गतियाँ रखते हैं । वृक्ष यदि दिन में कार्बन ग्रहण करते हैं तो आक्सीजन भी उत्पन्न करते हैं । पत्तियाँ यदि पीली पड़कर झड़ जाती हैं, तो नवीन हरी पत्तियों के निकलने का मार्ग भी साफ कर देती हैं ।

1.-वैदिक निबंधावली-डा० मुंशीराम शर्मा

चेतन क्षेत्र में प्राण और अपान ऋत के ही दो रूप हैं, पर ऋत का जो योग विकास पथ में दृष्टिगोचर होता है वह चेतन क्षेत्र के अन्तःकरण की विशिष्ठता है। द्वेष और कुटिलता अथवा प्रेम और सरलता के विचरण का वही क्षेत्र है। वहीं से चलकर ऋत के वे चार रूप शरीरिक एवं सामाजिक चेष्टाओं में प्रतिफलित है। द्वेष और कुटि कुटिलता मानव को गिराते हैं तथा प्रेम और सरलता उसे उठाते हैं।

ऋत की प्रथम सृष्टि बुद्धि है जिसके प्राप्त होते ही वाणी का समस्त विभाग निखिल वाङ्मय प्रकाशित हो उठता है। निर्मल निरावरण ज्ञान सत्व की विशुद्ध अवस्था है।

सत् का यह आविर्भाव एवं सत् में स्थिति प्रभु के साथ हमारी सन्धि कराने वाले हैं। सत् को भी छोड़कर जब हम आत्मस्थ होते हैं, अशुभ एवं शुभ दोनों से दूर जब हम ऋत के तन्तु से पृथक् हो जाते हैं। ऋत के चित्त विस्तृत फैले हुए प्रशस्त एवं अप्रशस्त तन्तु को चीर कर ही हम आत्मतत्व के दर्शन कर पाते हैं। और जो मूल में थे वही हो जाते हैं। ऋत का धाम अनीष्ट तप भी वही है।

भारतीय मनीषियों के अनुसार वेदों के द्रष्टा ऋषि हैं अवश्य, परन्तु हृदय कमल में उस दिव्य ज्ञान का प्रकाश सच्चिदानन्द ब्रह्म ही रहा है। ब्रह्म सत्य है उसके अतिरिक्त जगत् के जितने भी कार्य प्रपंच हैं, वे सब असत्य हैं जैसा कि " ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" इस कथन से प्रमाणित होता है। यदि इस जगत् का सूक्ष्मरूप से अध्ययन किया जाये तो यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि यहाँ नाम रूपात्मक समस्त जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तनशीलता के कारण यह जगत् और उसमें समुद्भूत समस्त पदार्थ असत्य है। कारण यह है कि जागतिक समस्त विकार उस परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं क्योंकि इन सबका मूल कारण ब्रह्म ही हैं। यह समस्त ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उसका कार्य है। ब्रह्म सर्वतन्त्र स्वतंत्र आनन्द स्वरूप है। उसका कोई आदि अन्त नहीं है और न ही कोई कारण है। " अतएव वह सत्य ज्ञान स्वरूप एवं अनन्त है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। वेद अपौरुषेय हैं अपौरुषेय /वाक्यं वेदाः " ब्रह्म निर्मित है अतः वे सदृश्यरूप हैं।

ऋग्वेद में एक मन्त्र में उल्लेख मिलता है कि महाप्रलय के पश्चात् महाकल्प के आरम्भ में सभी ओर से प्रकाशमान तपरूप परमात्मा से ऋत और सत् की उत्पत्ति हुई । उसी से रात्रि और दिन प्रकट हुए, उसी से जल और समुद्र का आविर्भाव हुआ । जलमय समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् दिनों और रात्रियों को धारण करने वाला कालस्वरूप संवत्सर प्रकट हुआ जो कि पलक मारने वाले जंगम प्राणियों और स्थावरों से युक्त समस्त संसार को अपने अधीन रखने वाला है । इसके पश्चात् सबको धारण करने वाले परमेश्वर ने सूर्य चन्द्रमा, दिव्य पृथ्वी, अन्तरिक्ष आदि लोकों की पूर्वकल्प के अनुसार सृष्टि की-

ॐ ऋतञ्च सत्यञ्चेभीद्धात्तपसो ध्य जायत । ततो रात्रजायत ।
ततः समुद्रोऽ र्णवः । समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।।
अहो रात्राणि विदधाश्वेस्य मिषतो वशी । सूर्यचन्द्रमसौ धाता
यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीन्यान्तरिक्षमयो स्वः ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि परमात्मा से सृष्ट होने वाला ऋत तत्व ही सर्वप्रथम सर्वभूत हुआ है । ऋत वस्तुतः सत् संकल्प है जिसके द्वारा समस्त सत्य और उससे समुद्भूत सम्पूर्ण संविद् की रचना होती है । यही ऋत की असाधारण शक्ति है। सामान्य रूप से देखने पर ऋत का महत्व इतना स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता है, परन्तु यदि सूक्ष्मतया उसका विश्लेषण किया जाये तो उसके महत्व एवं व्यापक कृतित्व को सहज में मूल्यांकित किया जा सकता है । अमरकोष आदि कोषकारों ने ऋत शब्द को सत्य के पर्यायवाची के रूप में प्रस्तुत किया है -

सत्यंतथ्यमृतं समम् ।

1- अमरकोष- 1/6/22

हेमचन्द्राचार्य भी इसके अनेक अर्थों को प्रस्तुत करते हुए यह मानते हैं कि ऋत सत् है । इस प्रकार कोशग्रन्थों के अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ऋत सत्य ही है परन्तु इस सत्य का आश्रय या आधार गति है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की, प्रगति संभव नहीं है । गतिशीलता ही इस जगत की सत् सत्ता है । स्थावर जंगमादि समस्त संसार गतिशील है । ब्रह्म की सृष्टि में कहीं भी अवरोध या स्थिरता नहीं है । इसी गतिशीलता के कारण समस्त जगत् ही परिवर्तनशील हो रहा है । ब्रह्म की शक्ति माया के द्वारा संसृष्ट पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश प्रतिक्षण गतिशील है । उनके कार्य किसी भी क्षण रुकते नहीं हैं । यदि इनमें कदाचित् स्थिरता आ जाये तो जगत् का अस्तित्व ही समाप्त हो जाये । पवन अविराम गति से बह रहा है जिसके द्वारा हम प्राण शक्ति पा रहे हैं । इन पंचमहाभूतों के बिना प्राणों का भीअस्तित्व संभव नहीं है । उदाहरण के लिए जब हम थोड़ी देर के लिए वायु का समाश्रयण छोड़ते हैं तो उस स्थिति में हमारे प्राण रुकने लगते हैं और अस्तित्व संकट में पड़ता हुआ दिखाई देने लगता है । इस प्रकार परमात्मा से समुत्पन्न ऋत तत्व सर्वातिशायी एवं सुदृगतिशीलता को प्रदान करने वाला प्रमुख धर्म है ।

मानव शरीर में स्थित इन्द्रियादि की अपेक्षा प्राण अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व है ।

इसकी वायु के रूप में सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति स्वीकार की गई है और यह हृदयप्रदेश में स्थित है ॥हृदप्राण॥

छान्दोग्योपनिषद के पंचम अध्याय में इन्द्रियों के द्वारा प्राण का स्तवन हुआ है । प्राण को वशिष्ट प्रतिष्ठा , संपद और आयतन के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है-

"अथ हैनं वागुवाच यदहं वासिष्टोऽस्मि त्वं तद्ववसिष्ठोऽसीत्य हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ।।[1]

1- छान्दोग्योपनिषद, खण्ड 1, अध्याय 5, मंत्र 13

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं सम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ।।[1]

इन्द्रियों में जो शक्ति है वह प्राण की ही शक्ति है जैसा कि निम्नलिखित श्रुतिवचन से प्रमाणित हो रहा है-

न वै वाचो न चक्षूषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवंति ।।[2]

इस संसार में जो कुछ भी प्राणियों के द्वारा भक्षित होता है वह प्राण से ही भक्षित होता है । छान्दोग्योपनिषद् में अन्न प्राण का प्रत्यक्ष नाम माना गया है ।[3] अन्न प्राणे धातु से अन्न शब्द निष्पन्न होता है ।

प्राण शब्द की निष्पत्ति अमरकोष की रामाश्रमी टीका में इस प्रकार की गयी है -

"प्रसरणेन, अपसरेणन, समन्तात् ऊर्ध्वेन व्याप्त्या च अनित्यनेन हलश्च ।3/3/121। इति धर्म इति मुकुट: । अन्ये तु- प्राणयति अपानयति समन्तादानयति । आनयते: ।अन प्राणने अ.प.से। इतिष्यन्तात् ड: । वा 3/2/101। अयु। 3/1/134 वा इत्याह: ।

इस प्रकार अन शब्द में विभिन्न उपसर्गों के प्रयोग से ही प्राणादि की सिद्धि होती है-

प्र + अन = प्राण ।
अप् +अन = अपान ।
उद् +आ + अन = उदान ।
वी + आ + अन = व्यान ।
सम् + आ + अन = समान ।

इन पाँचों में प्राण की ही प्रधानता है ।

1-छान्दोग्योपनिषद-खण्ड 1 , अध्याय 5, मंत्र 14
2-वही मंत्र 15
3- वही खण्ड 2 द्वितीय अध्याय मंत्र 1, 2

प्राणियों का भक्ष्य प्राण का अन्न है और जल प्राण का वस्त्र है-

"स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चेदमाद्भ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदन्नस्यान्नं यदापो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति ।

"स होवाच किमे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्टान्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चदुभिः परिदधति लम्भुकों ह वासो भवत्यन्नादो ह भवति ।।[1]

बृहदारण्यकोपनिषद में भी इसकी पुष्टि मिलती है कि जो कुछ भी अन्न खाया जाता है वह प्राण के द्वारा ही खाया जाता है और उस अन्न से प्राण प्रतिष्ठित होता है-

अथात्मनेऽन्नाद्यमाहरति यद्वि किञ्चान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इ ह प्रतितिष्ठति ।।[2]

यही प्राण की सर्वभोक्तता इस प्रकार निरूपित हुई है-

"ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदं सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरन नोऽस्मिन्नन्न आभजध्वेति ते वै ।। माभिसविशतेति तथेति तं समन्त परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनेतास्तृप्यन्त्येव ह वा एनस्वा, अभिसंविशान्ति भर्ता स्वानाम् श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं य उ हैवविदं स्वेषु प्रति . प्रतिबुभूषित नहैवालंभायोभ्यो भवत्यथ य एतमनु भवति यो वैतमनु भार्यान्बुभूषित स हैवालं भार्येभ्यो भवति ।।[3]

1-बृहदारण्यकोपनिषद-ब्राह्मण 3 मंत्र 17

2-वही मंत्र 17

3- वही प्रथम अध्याय, मंत्र 18

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋत एवं प्राण दोनों ही गतिशीलता के आधार है । इनके द्वारा ही ब्रह्म की अव्यक्त शक्ति समस्त लोकों का संचालन करती है । स्थावर जंगमात्मक समस्त जगत् प्रपंच की इन्हीं प्राण और ऋत की शक्तियों द्वारा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति हो रही है अतएव सूक्ष्म शरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त कार्यव्यापार क्रमशः ऋत एवं प्राण शक्तियों से अनुप्राणित है ।

प्राण और हृदय

हृदय के पाँच देव सुषि ।छिद्र। हैं । इसका जो पूर्व-दिशावर्ती सुषि ।छिद्र। है वह प्राण है वह चक्षु है, वह आदित्य है । हृदय के पाँच पाँच संख्या वाले देवसुषि देवताओं के सुषि अर्थात् स्वर्गलोक की प्राप्ति के द्वार भूत पाँच छिद्र हैं । वे प्राण और आदित्य देवताओं से सुरक्षित हैं । इसलिए देवसुषि कहलाते हैं । स्वर्ग.लोक के भवन रूप इस हृदय का जो प्राण सुषि है- पूर्वाभिमुख हृदय का जो पूर्वा दिशावर्ती छिद्र यानी द्वार है वह प्राण है । जो हृदय में ही स्थित है और उसी के द्वारा संचार करता है वह वायु विशेष "प्राक् अनिति" इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राण कहलाता है । उस प्राण ही से संबद्ध और अभिन्न चक्षु हैं इसी प्रकार वह आदित्य भी है । जैसा कि आदित्य निश्चय ही बाह्य प्राण है । प्राण वायुरूप एक ही देवता एक ही आश्रय में स्थित होने के कारण चक्षु और आदित्य नाम से कहे जाते हैं ।

हृदय का जो दक्षिण छिद्र है वह व्यान है अर्थात् हृदय.के दक्षिण छिद में स्थित जो वायु विशेष है वह वीर्यवान कर्मकरता हुआ गमन करता है अर्थात् प्राण और अपान से विरोध करके अथवा नाना प्रकार से गमन करता है, इसका ।व्यान" कहलाता है तथा हृदय का पश्चिम छिद्र है उसमें स्थित जो वायु है वह शरीर की गन्दगी को दूर करता हुआ नीचे की ओर ले जाता है इसलिए अपना कहलाता है, क्योंकि इनका उस ।समष्टि -अपान। से संबंध है । हृदय का जो उदङ् सुषि उत्तरवर्ती छिद्र है उसमें स्थित हुआ जो वायु विशेष है वह खायेपिये अन्न जल को समान रूप से सम्पूर्ण शरीर में ले जाता है इसलिए "समान" है ।

हृदय का जो ऊर्ध्व छिद्र है वह उदान है । पैर के तलुये से लेकर ऊपर की ओर उत्क्रमण करने के कारण और उत्कर्ष के लिए कर्म करता हुआ चेष्टा करता है- इसलिए वह उदान है ।[1]

1-छान्दोग्योपनिषद् शंकर भाष्य सहित अध्याय 3, खण्ड 13 पृ0 266-273

अथर्ववेद में भी प्राण और हृदय के संबंध को इस प्रकार बतलाया है-

दो इमौ वातौ वातः आसिन्धोः आ परावतः ।
दक्षं ते अन्य आवातु परान्यो वातु यद्रपः ।।[1]

अर्थात् ये दो वायु चल रहीं हैं, एक बाहर के सिन्धु के अन्दर के सिन्धु तक अन्दर का सिन्धु हृदय है बाहर का सिन्धु अन्तरिक्ष । एक दक्ष अर्थात् बल लाती है तो दूसरी दोष करती है । एक से प्राण अर्थात् जीवन आता है तो दूसरी से अपनयन, दोषापहरण होता है । वेद तो इसे देवताओं का दूत भी कहता है । प्राण का संयम दिव्यता का आह्वाहन है है । हमारा प्राण बाहर के प्राण सिन्धु से शक्ति ग्रहण करता है और फिर भीतर जाकर हृदयसिन्धु में गोता लगाता है । पहली क्रिया से हमारे अन्दर प्राण शक्ति का संचार होता है औरजब दूसरी क्रिया होता है उस समय जब यही प्राण हृदय के समुद्र में गोता लगाकर बाहर आता है इस क्रिया के साथ हमारे अन्दर का मल बाहर निकल जाता है । इस प्रकार प्राण के पाँच रूपों में पहला कार्य प्राण का है और दूसरा अपान का है । दोनों शब्दों के अर्थ भी इन्हीं प्रक्रियाओं के सूचक है हृदय के बाईं ओर दो छोटे छोटे कोष और हैं इन्हें वाम विलय और दक्षिण विलय कहते हैं । वामविलय में संक्रमण और दक्षिण विलय में अपने इन दोनों के द्वारा शुद्ध रक्त का संचार हृदय में होता है । वहाँ से बहत्तर हजार नाड़ियों द्वारा यह रक्त सम्पूर्ण शरीर में फैलता है इस क्रिया में प्राण का व्यान रूप सक्रिय है ।

यदि बल का संचार और मल का अपनयन होता रहे तो शरीर तो स्वस्थ रहता ही है मस्तिष्क में भी बुद्धि की शुद्धि होती रहती है । बुद्धि की शुद्धता दिव्यता का संचार करती है इसलिए प्राण को दिव्यता का दूत कहा गया है । यह दिव्यता शक्ति और सुख प्रदान करती है ।

इस प्रकार प्राण और हृदय दोनों का घनिष्ठ संबंध है ।[2]

1-अथर्ववेद

2-वैदिक निबंधावली-डा० मुंशीराम शर्मा

हृदय से निकली सौ नाड़ियाँ, एक सुषुम्ना, सौ नाड़ियों के बहत्तर करोड़ रूप

इस हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं । उन (101) एक सौ एक मूल नाड़ियों में से एक एक की सौ सौ शाखा नाड़ियाँ फूटती हैं । उन एक एक शाखा नाड़ियों को बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ होती हैं, उन सब नाड़ियों में व्यान नामक प्राण विचरता है । अर्थात् शरीर में सर्वत्र फैली हुई जिन नाड़ियों में यही व्यान वायु संचार करता है उनकी संख्या इस प्रकार है-, सम्पूर्ण मूल नाड़ियाँ एक सौ एक प्रत्येक मूल नाड़ी की शाखा नाड़ी है सौ-सौ, अतः सब शाखा नाड़ी हुई दस हजार एक सौ (101×100= 10,100) । और प्रत्येक शाखा नाड़ी की प्रतिशाखा नाड़ी है बहत्तर बहत्तर सहस्त्र अतः सब प्रतिशाखा नाड़ी हुई :- बहत्तर करोड़ और बहत्तर लाख (10100× 72000) = 72,72,00,000 सम्पूर्ण मूल नाड़ी शाखा नाड़ी और प्रतिशाखा नाड़ी मिलकर हुई बहत्तर करोड़ बहत्तर लाख दस हजार दो सै एक (72,72,10,201) एक सौ एक मूल नाड़ियों की भी मूल नाड़ी सब में प्रधान एक ही है, उस प्रधान मूलनाड़ी को सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं जो पैर से लेकर ब्रह्माण्ड में होती हुई नासिका के ऊपर भ्रूमध्य के त्रिकुटी देश में इड़ा और पिंगला नाड़ियों में जा मिली है । इस ही नाड़ी के हृदयस्थ एक देश में जीवात्मा का निवास है ।[1]

---

1. ध्यानयोग प्रकाश-द्वितीय अध्याय, साधनचतुष्टय, पृ0 204-205